कोलकाता
०७ अक्टूबर, २००५

संदेश संख्या – ७६

'मैं'

शून्यता अर्थात् भगवत्ता के होने के लिए शरीरी चेतना में विद्यमान व्यर्थ विभाजनों का विलय हो जाय।

शरीरी चेतना में विद्यमान विभाजन, अपने ही खण्डित अवयवों तथा उनके अन्तहीन अन्तर्द्वन्द्वों एवं अन्तर्विरोधों के मध्य से मिथ्या ''मैं'' की अवधारणा को उत्पन्न करता है । इस 'मैं' को विभेदकारी चित्तवृत्ति के अवयवों के क्षेत्र से अलग मानना ही मानवीय दुःख, दुःखभोग, व्यथा, समस्या, भ्रम और भ्रांति का प्रारम्भ है । भ्रामक विखण्डन रूपी यह 'मैं' पीढ़ी–दर–पीढ़ी के गहन अनुबन्धन के कारण अपनी अलग सत्ता मान लेता है और शरीर में चेतना के अन्य अवयवों के साथ हस्तक्षेप करने लगता है । स्मृति में अंकित सभी प्रकार के पंजीकरण चाहे वे तथ्यपरक हों या काल्पनिक, सकारात्मक हों या नकारात्मक–ये सभी समान रूप से 'शरीरी चेतना' और 'मैं' दोनों के ही अवयव हैं । इसे न देखा जाता है और न ही समझा जाता है । 'मैं' हमेशा ही चेतना के अवयवों के क्षेत्र से अलग मालूम पड़ता है।

यह द्वैत, अर्थात् 'मैं' और 'शरीरी चेतना के अवयव', दोनों मिलकर एक आत्मसंरक्षी प्रक्रिया को उत्पन्न करते हैं । चेतना के जितने अधिक अवयव होंगे, 'मैं' का पुष्टीकरण उतना ही ज्यादा होगा । पुनः 'मैं' जितना पुष्ट होगा, चेतना के अवयवों की उतनी ही ज्यादा मांग होगी और इस तरह, सभी तरह की इच्छाओं की पूर्ति हेतु अहंकार की अन्तहीन लालसा प्रारम्भ हो जाती है । कोई भी इच्छा हो, पूर्ण हो जाय या निराशा हाथ लगे, दोनों ही स्थिति में और अधिक इच्छा का जन्म होता है । इस तरह यह पवित्र जीवन चाहने–पाने एवं चिन्ता करने के दलदल में फँसकर व्यर्थ चला जाता है । भय, विश्वास–पद्धतियाँ, निर्भरता, सांत्वना, आश्वासन, मनोवेग, भावनाएँ, द्वन्द्व, युद्ध, असुविधायें और बीमारियाँ एक–एक कर या फिर एक साथ मिलकर स्नायुतंत्र को कमजोर कर देती हैं जिससे मस्तिष्क में क्षरण (एट्राफी) हो जाता है । यह सब सीमित आकाश और समय की अवधारणा में फँसे शरीरी चेतना के द्वैत के अवधारणामूलक शून्य के कारण होता है ।

इस अवधारणामूलक सतही–शून्यता के कारण हमें यह पता भी नहीं चलता कि हम क्या खो रहे हैं ? किन्तु जो खो रहे हैं, वह है – असीम शून्यता की सत्यता जो कि दो वस्तुओं के बीच की दूरी और समय पर आधारित हमारी अवधारणामूलक शून्यता से बिल्कुल भिन्न है । इस शाश्वत एवं अस्तित्वमय शून्यता की जीवन्तता ही दिव्यता है । यह निराकार किन्तु परम चैतन्य है जो कि परम ऊर्जा भी है । शून्यता ही इसे देख सकती है । तुम अर्थात् चित्तवृत्ति अपने समस्त अधिकार, आसक्ति और जटिलता के साथ इसे केवल खोज सकते हो परन्तु कभी भी इसे पा नहीं सकते ।

यह मिथ्या 'मैं', जो कि शरीरी चेतना रूपी क्षेत्र का एक हिस्सा मात्र है, स्वयं को सततता और चिरस्थायित्व प्रदान करने हेतु दुस्साहसिक प्रयास करता है । प्रत्येक धर्म–आधारित ठगी का यही स्रोत है । शरीरी चेतना का द्वैत मानव संबंधों के प्रत्येक स्तर यथा–परिवार, समाज, राष्ट्र, अन्तरराष्ट्रीय, धर्म, ईश्वर इत्यादि पर फैल जाता है । मनुष्य के कष्ट एवं त्रासदी का यही मूल कारण है । क्या इस द्वैत का विलय हो सकता है ? क्या विचारक और विचार के मध्य, प्रेक्षक और प्रेक्ष्य के मध्य, दर्शक और दृश्य के मध्य योग (लय) हो सकता है? जब 'मैं' और चित्तवृत्ति के मध्य लय होगा, केवल तभी परमपवित्र अभिव्यक्त हो सकता है ।

जय पवित्र हिमालय